

संस्कारों की उपयोगिता

डॉ० इन्दिरा जुगरान
एसोसिएट प्रोफेसर- संस्कृत
रा०स्ना०महा० ऋषिकेश

प्रकृति से जो वस्तुएं जिस रूप में उत्पन्न हुई हैं उनमें से कुछ तो ऐसी हैं जिनका उपयोग मनुष्य उसी रूप में करता है जैसे जल वायु अथवा दुग्ध परन्तु अनेक पदार्थ ऐसे हैं, जो प्राकृतिक रूप में उपयुक्त नहीं होते और उपयोग योग्य बनाने के लिए उनका संस्कार किया जाता है, संस्कृत होकर ही वे काम में आती हैं। संस्कार का अर्थ है सम्यक करना या उपयुक्त बनाना इसकी प्रतिक्रिया तीन प्रकार की होती है प्राकृतिक पदार्थ में जिन अनुपयोगी तत्वों का समावेश हो गया है उन दोषों को दूर करना 'दोषमार्जन' संस्कार कहलाता है। इसके बाद उसके स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए उसमें 'अतिशय' विशेषता का आधान करना 'अतिशयाधान' दूसरा संस्कार है। इन दोनों को उपयोग में लाने के लिए उसमें 'अंगहीनता' (कमी) दिखती है उसकी पूर्ति करना ही "हीनांगपूर्ति" तीसरा संस्कार है। उदाहरण के लिए लौकिक दृष्टि से अन्न को लिया जाए प्राकृतिक रूप से खेत से जिस प्रकार अन्न पैदा होता है उसे उसी रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। तुष भूस आदि जो अनुपयुक्त अंश उसमें सम्मिलित हैं उन्हें दूर करके शुद्ध दाने के रूप में उनको तैयार करना दोषमार्जन संस्कार है। अन्न में कूट पीस कर अग्निपाक द्वारा जो विशेषताएं की जाती हैं वह 'अतिशयाधान संस्कार है। तदनन्तर रुचि के अनुरूप मधुर लवण तिक्त आदि के द्वारा उसकी कमी को दूर करके संस्कार करना "हीनांगपूर्ति" है। शास्त्रीय संस्कार श्रौत और स्मार्त्त भेद से दो भागों में विभक्त माने गये हैं। आत्म संस्कार स्मार्त्त कहलाते हैं। इन संस्कारों का मूल तो स्मृतियों में ही है किन्तु इनकी कर्तव्य पद्धति स्मार्त्त ग्रन्थों में है। इससे इन्हें स्मार्त्त संस्कार कहा जाता है। दैव संस्कार की इतिकर्तव्यता श्रुतियों में विशदतया विहित है अतः ये श्रौत कहे जाते हैं। स्मार्त्त संस्कार के 21 भेदों में तीन अवान्तर भेद कहे गये हैं। इनमें प्रथम गर्भ संस्कार के अर्न्तगत आठ, अनुव्रत के अर्न्तगत आठ तथा धर्म शुद्धि के अर्न्तगत पाँच अवान्तर भेद हैं। इनमें अन्तिम पाँच दैव (श्रौत) संस्कार के मूल प्रतिष्ठा बनते हैं। इसलिए इनका श्रौत संस्कार में अर्न्तभाव मान लिया जाता है। इस प्रकार स्मार्त्त संस्कार के षोडश भेद ही अवशिष्ट रहते हैं। संस्कारों की संख्या में विद्वानों में प्रारम्भ से ही कुछ मतभेद रहा है गौतम स्मृति में 48 संस्कार बतलाये गये हैं। महर्षि अंगिरा ने 25 संस्कार निर्दिष्ट किये हैं। पुराणों में भी विविध संस्कारों का उल्लेख है। परन्तु उनमें मुख्य तथा आवश्यक षोडश संस्कार माने गये हैं।

गर्भसंस्कार- गर्भ संस्कार के अर्न्तगत आठ भेद ये हैं-गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त(ये तीन अन्तगर्भ संस्कार हैं) जातकर्म, नामकरण,निष्क्रमण, अन्नप्राशन और चौलकर्म (ये पाँच बहिर्गर्भ संस्कार हैं) ये संस्कार शोधक दोषमार्जक हैं। ये पिता के द्वारा किये जाते हैं।

अनुव्रत- दूसरे अनुव्रत संस्कार के आठ भेद हैं। कर्ण भेद, उपनयन, व्रतादेश, वेदस्वाध्याय, केशान्त समावर्तन, विवाह और अग्नि परिग्रह ये आठों बाह्यभाग में अतिशयाधान करते हैं। तथा आचार्य कर्त्तक हैं। तीसरे धर्मशुद्धि के अर्न्तगत- शरीर शुद्धि, द्रव्यशुद्धि, एनः शुद्धि, अघशुद्धि और भावशुद्धि पाँच हैं।

1- गर्भाधान संस्कार- विधिपूर्वक संस्कार से युक्त गर्भाधान से अच्छी और सुयोग्य संतान उत्पन्न होती है इस संस्कार से गर्भ सम्बन्धी पाप का नाश होता है। दोष का मार्जन होता है। गर्भाधान के समय स्त्री और पुरुष जैसे आहार व्यवहार और चेष्टा से युक्त होते हैं संतान में भी वही भाव प्रकट होते हैं। अतः शुभ मुहुत में शुभ मंत्र से प्रार्थना करके गर्भाधान करना चाहिए।

2-पुंसवन- संस्कार - यह दूसरा संस्कार है। गर्भाधान के तीन मास बाद किया जाता है। इसके द्वारा गर्भस्थ जीव में पुरुष भाव का आधान किया जाता है यदि जीव में पुरुष भ्रूण की अधिकता हो तो पुरुष और स्त्री भ्रूण

की अधिकता हो तो स्त्री का भाव आधान होता है। मंत्रोच्चारण के साथ कुछ औषधियों का रस गर्भिणी के नासा रन्ध्रों द्वारा प्रवेश कराया जाता है इस संस्कार का उद्देश्य गर्भ को स्वस्थ तथा बलवत्तर बनाना है।

3- सीमान्तोन्नयन संस्कार- स्त्रियों के केश को दो समान भागों में विभाजित करने वाली सिन्दूर रेखा को सीमान्त कहा जाता है। गर्भाधान के चौथे छठे या आठवें मास में यह संस्कार किया जाता है। इसका उद्देश्य यह है कि गर्भिणी का गर्भपात न हो। इसमें स्त्री के मांग में स्नुही के कांटे का स्पर्श कराया जाता है और सोम आदि की स्तुति की जाती है सामान्यतः गर्भ में चार मास के बाद बालक के अंग प्रत्यंग हृदय आदि प्रकट हो जाते हैं। चेतना का स्थान हृदय बन जाने के कारण गर्भ में चेतना आ जाती है इसलिए उसमें इच्छाओं का उदय होने लगता है वे इच्छाएं माता के हृदय में प्रतिबिम्बित होकर प्रकट होती है तो "दोहद" कहलाता है गर्भ में जब मन तथा बुद्धि में नूतन चेतना शक्ति का उदय होने लगता है तब इनमें जो संस्कार डाले जाते हैं उसका बालक पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

4- जातकर्म- संस्कार- प्रसव के बाद यह संस्कार विहित है इसका उद्देश्य बालक की बुद्धि तथा आयु की वृद्धि है नालोच्छेद के पूर्व शिशु को स्वर्ण पात्र से दधि, घृत और मधु मिलाकर चटाया जाता है। और साथ ही मंत्रोच्चारण के साथ बालक का जीभ में सुवर्ण की शलाका से "वेद" लिखा जाता है। यह कामना की जाती है कि शिशु गुण कर्मों से अपने पिता-पितामह से अधिक विकास करे।

5- नामकरण संस्कार - इस संस्कार का फल आयु तथा तेज की वृद्धि तथा लौकिक व्यवहार की सिद्धि बताया जाता है। आयुर्वचोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवृत्तेस्तथा। नामकर्मफलं त्वेतत् समुच्छिष्टं मनीषिभिः।

(स्मृति संग्रह)

यह संस्कार प्रसव के ग्यारहवें दिन किया जाता है। नामाक्षर के सम्बन्ध में स्मृतियों में कहा जाता है कि नामाक्षर ऐसे हो जिनमें सात्विक और पवित्र भाव का द्योतन हो। नाम ऐसे हो जो उनके कर्तव्यों को सूचित करें। सुनने में अच्छे लगें।

6- निष्क्रमण संस्कार- नवजात शिशु का प्रथम बार घर से निकलने के समय जो संस्कार किया जाता है उसे "निष्क्रमण" कहा जाता है। यह जन्म से चौथे मास होता है रक्षक प्राण देवताओं से सम्बद्ध मंत्रोच्चारण के साथ बच्चे को सूर्यदर्शन कराया जाता है। शारीरिक दृष्टि से शिशु निरोग रहे और प्राकृतिक तथा भौतिक व्याधियों से बचा रहे। बालक का शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश से बनता है। बालक का पिता इस संस्कार के अर्न्तगत आकाश आदि पंचभूतों के अधिष्ठाता देवताओं से बालक के कल्याण की कामना करता है यथा-

शिवे तेऽस्तां द्यावापृथिवि असंतापे अभिश्रियौ, शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे। शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः।।

(अथर्ववेद सं० 8-2-14)

अर्थात् हे बालक! तेरे निष्क्रमण के साथ द्युलोक तथा पृथिविलोक कल्याणकारी सुखद एवं शोभास्पद हों। सूर्य तेरे लिए कल्याणकारी प्रकाश करें तेरे हृदय में स्वच्छ कल्याणकारी वायु का संचरण हो। दिव्य जल वाली गंगा-यमुना आदि नदियाँ तेरे लिए निर्मल स्वादिष्ट जल का वहन करें।

7- अन्नप्राशन संस्कार- जब बालक 6-7 मास का होता है। पाचन शक्ति प्रबल होने लगती है तब यह संस्कार किया जाता है। शुभ-मुहुर्त्त में देवताओं का पूजन करने के पश्चात् माता-पिता सोने व चाँदी की चम्मच से अधोलिखित मंत्र का उच्चारण करके बालक को खीर आदि पवित्र और पुष्टिकारक अन्न चटाते हैं।

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।

एतौ यक्ष्मं वि वाधेते एतौ मुतौ अंहसः।।

(अथर्ववेद 8-12-18)

अर्थात् हे बालक! जौ और चावल तुम्हारे लिए बलदायक तथा पुष्टिकारक हों। क्योंकि ये दोनों वस्तुएं यक्ष्मा नाशक है तथा देवान्न होने से पापनाशक है। इस संस्कार के अर्न्तगत देवों को खाद्य पदार्थ निवेदित कर अन्न खिलाने का विधान बताया गया है अन्न से उसके मन और शरीरादि में बल का संवर्धन होता है अन्न जिसे शास्त्रों में प्राण कहा जाता है। तन और मन को सुदृढ़ बनाने में अन्न का सर्वाधिक योगदान है शुद्ध सात्विक और पौष्टिक आहार से ही तन स्वस्थ रहता है और स्वस्थ तन में ही स्वस्थ मन का निवास होता है। आहार शुद्ध होने पर ही अन्तःकरण शुद्ध होता है। तथा मन बुद्धि आत्मा सबका पोषण होता है इसलिए इस संस्कार का हमारे जीवन में विशेष महत्त्व है।

8- चूड़ाकर्म संस्कार- विधि निर्देश के अनुसार शरीर से बाहर जो केश है उनमें पवित्री करण न होने से वे त्याज्य है। इसलिए उनका वपन आवश्यक है सर्वप्रथम केश का वपन करते समय जिस विधि का आश्रय लिया जाता है उसे चूड़ाकर्म संस्कार कहा जाता है। इस संस्कार में मंत्रोच्चारण द्वारा सोम तथा अग्नि आदि देवों से यह प्रार्थना की जाती है कि बालक के लिए वह कष्टदायी न हो।

चूड़ाकर्म में शिखा वपन निषेध है। कारण यह है कि जिस स्थान पर शिखा होती है वह ब्रह्म रन्ध्र कहा जाता है। केशों के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से होकर सूर्यप्राण शरीर में प्रवेश करते और उसी रास्ते शरीरस्थ प्राण सूर्य की ओर जाते हैं। इसलिए सन्ध्यावन्दन ध्यान उपासना और समाधि के समय शिखा बाँधने का नियम है जिससे अन्तःकरण का प्रकाश या तेज सूर्य के आकर्षण से बाहर न निकल सके। शिखा बाँध जाने के पश्चात ब्रह्मरन्ध्र बन्द हो जाता है।

9- कर्णभेद संस्कार- यह नवौं संस्कार है कुछ धर्माचार्य इसे मानते हैं कुछ नहीं मानते हैं। चूड़ाकर्म की भाँति तीसरे या पाँचवें वर्ष इस संस्कार को करने का विधान है। ज्ञान-अज्ञान दोनों ही श्रवणेन्द्रियों द्वारा आत्मा में प्रवेश करते हैं। अतः इसका बड़ा महत्त्व है।

इस संस्कार के समय "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम्" आदि मंत्रों द्वारा मंगलमय वाणी को सुनने और परनिन्दा पाप आदि न सुनने की कामना की गई है। श्रवण कर्णेन्द्रिय शब्द ज्ञानेन्द्रिय का आधार होने के कारण उसकी परिशुद्धि एवं ग्रहणशीलता के लिए कर्ण भेद संस्कार को आवश्यक बताया गया है। अवस्थानुरूप बालक बालिका के शरीर में जिस विकार भाव का उदय होता है उसके उन्मूलन के लिए यह संस्कार उपयोगी है।

10-उपनयन (व्रतादेश)संस्कार- इसको यज्ञोपवीत या व्रत बन्ध संस्कार भी कहा जाता है। इसके द्वारा बालक की बुद्धि का परिमार्जन होता है। जिससे वह विद्याध्ययन के उपयुक्त बन सके। उपनयन का अर्थ है समीप ले जाना। इसके द्वारा बालक को गुरु के समीप ले जाया जाता है। गुरु के आश्रम में रहकर वह वेदाध्ययन का अधिकारी होता है। उसमें बुद्धि के अधिष्ठाता सूर्यदेव की अराधना और यज्ञ का विधान होता है। यज्ञ में पलाश की समिधाओं की आहुति दी जाती है और पलाशदण्ड धारण किया जाता है।

उपनयन संस्कार बालक के दूसरे जन्म का सूचक माना जाता है क्योंकि इस जन्म में सावित्री उसकी माता और आचार्य पिता का स्थान ग्रहण करते हैं। ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत आठवें वर्ष में होता है। उसकी विलक्षण प्रतिभा के कारण पाँचवें वर्ष में भी उसका संस्कार हो सकता है। उसकी अन्तिम अवधि सोलहवाँ वर्ष है। इसी प्रकार क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष और वैश्य का बारहवें वर्ष निर्धारित है। उनकी अन्तिम सीमा बाईसवाँ और चौबीसवाँ वर्ष निर्धारित किया है। इस संस्कार के बाद बालक में तेज बल और वीर्य का आधान होता है। उपनयन के बाद आचार्य जिस व्रत के अनुष्ठान तथा परिपालन के लिए आदेश देता है उसे व्रतादेश कहा जाता है।

11— वेदारम्भ संस्कार— उपनयन हो जाने पर बालक का वेदाध्ययन में अधिकार प्राप्त हो जाता है। ज्ञान स्वरूप वेदों के सम्यक अध्ययन से पूर्व मेधाजनन नामक एक उपांग संस्कार करने का विधान है। इस क्रिया से बालक की मेधा, प्रज्ञा, विद्या तथा श्रद्धा की वृद्धि होती है। वेदाध्ययन आदि में विशेष अनुकूलता प्राप्त होती है विद्याध्ययन में कोई विघ्न नहीं होने पाता। ज्योतिर्निबन्ध में कहा गया है—

विद्यया लुप्यते पापं विद्ययाऽऽयुः प्रवर्धते।

विद्यया सर्वसिद्धिः स्याद्विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

‘वेद विद्या के अध्ययन से पापों का लोप होता है, आयु की वृद्धि होती है, सारी सिद्धियां प्राप्त होती हैं, यहा तक कि उसके समक्ष साक्षात अमृत रस अषन—पान के रूप में उपलब्ध हो जाता है।

गणेश और सरस्वती की पूजा करने के पश्चात् वेदारम्भ—विद्यारम्भ में प्रविष्ट होने का विधान है, अपने गुरुजनों से अंगो सहित वेदों तथा उपनिषदों का अध्ययन करना चाहिए। तत्वज्ञान की प्राप्ति कराना ही इस संस्कार का परम प्रयोजन है। इस संस्कार के पश्चात ही ब्राह्मण को श्रौत संस्कारों के सम्पादन का अधिकार प्राप्त होता है। वेद स्वाध्याय संस्कार के बिना वह यज्ञादि कार्यों का अधिकारी नहीं होता है। मनु ने लिखा है, कि वेदों का विधिवत् अध्ययन करने के उपरान्त ब्रह्मचर्य की रक्षा करता हुआ युवक गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने योग्य होता है।

12. केशान्त संस्कार (गोदान) वेदारम्भ संस्कार में ब्रह्मचारी गुरुकुल में वेदों का स्वाध्याय तथा अध्ययन करता है, उस समय वह ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करता है, तथा उसके लिए केश और श्मश्रु (दाढ़ी) मौंजी मेखलादि धारण करने का विधान है, जब विद्याध्ययन पूर्ण हो जाता है, तब गुरुकुल में ही केशान्त संस्कार सम्पन्न होता है, इस संस्कार में भी आरम्भ में गणेशादि देवों का पूजन कर तथा यज्ञादि के सभी अंगभूत कर्मों का सम्पादन करना पड़ता है, तदन्तर श्मश्रु-वपन की क्रिया सम्पन्न की जाती है, इसलिए यह श्मश्रु संस्कार भी कहलाता है कहीं कहीं इसे गोदान संस्कार भी माना गया है, क्योंकि गौ यह नाम केश (बालों) का भी है, यह संस्कार केवल उत्तरायण में किया जाता है।

13. समार्वतन संस्कार— सांगोपांग वेदाध्ययन के उपरान्त यह संस्कार ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति का सूचक है, इस संस्कार के बाद वह स्नातक होकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश पाने का अधिकारी हो जाता है, ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि में जो मेखला, मृगचर्म तथा दण्ड आदि धारण किये जाते हैं, उनका परित्याग कर दिया जाता है, इस समय गुरु उसे माता-पिता गुरु अतिथि आदि की सेवा, परिचर्या और मानवता के लिए उपयोगी उदात्त कर्तव्यों के परिपालन करने का उपदेश देते हैं।

14. विवाह संस्कार— गृहस्थ आश्रम में प्रवेश पाने के लिए विवाह या पाणिग्रहण संस्कार का विधान किया गया है, विवाह संस्कार को शारीरिक या भौतिक दृष्टि से ही नहीं पारमार्थिक दृष्टि से भी बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है, जिन दो शरीरों का विवाह संस्कार होता है, शरीर से भिन्न रहते हुए भी वे आत्मा से एक हो जाते हैं, जल और अग्नि के मेल से जो अथाह शक्ति उत्पन्न होती है, वैवाहिक बन्धन में बंधे स्त्री-पुरुष में उसी शक्ति का संचार होता है, विवाह संस्कार के समय पति-पत्नी गृहस्थ जीवन के अनुष्ठान के लिए जिन व्रतों के परिपालन की प्रतिज्ञा करते हैं, उनसे यह सिद्ध होता है, कि लोक-परलोक तक उनका सम्बन्ध बना रहता है।

15. अग्नि- परिग्रह— विवाह संस्कार के अर्न्तगत गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के बाद अग्नि परिग्रह संस्कार का विधान है, गृहस्थ जीवन के सुख एश्वर्य और आत्मा-देहादि धर्मों की पवित्रता तथा अभ्युदय के लिए श्रुतियों तथा स्मृतियों के निर्देशानुसार घर में गृहाग्नि की प्रतिष्ठा की जाती है।

उसके द्वारा पांच महायज्ञों का अनुष्ठान होता है, सभी वैश्वदेवादि स्मार्त-कर्म तथा पाक यज्ञ इसी अग्नि में अनुष्ठित किये जाते हैं। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने भी लिखा है—

कर्म स्मार्त विवाहग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही।

(या0 स्मृति, आचाराध्याय 5/97)

—इस अग्नि को गृहाग्नि, आवसथ्याग्नि तथा विवाहाग्नि भी कहा जाता है, गृह सूत्रों में पठित सभी कर्म इसी अग्नि में किये जाते हैं।

16. त्रेताग्नि संग्रह संस्कार—

‘स्मार्त वैवाहिके वह्नौ श्रौतं वैतानिकाग्निषु’

(व्यास स्मृति-2-17)

स्मार्त या पाकयज्ञ-संस्था के सभी कर्म वैवाहिक अग्नि में तथा हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ -संस्था के सभी श्रौत -कर्मानुष्ठानादि कर्म वैतानग्नि (श्रौताग्नि, त्रेताग्नि) में सम्पादित होते हैं, विवाहाग्नि (गृहाग्नि) से अतिरिक्त तीन अग्नियां और होती हैं, जो आहवनीय, दाक्षिणाग्नि तथा गार्हपत्य नाम से कही जाती है, ये तीन अग्नियां सामुहिक रूप से त्रेताग्नि, श्रौताग्नि, तथा वैतानाग्नि कही जाती है, इन तीन अग्नियों की स्थापना, उनकी प्रतिष्ठा रक्षा तथा उनका हवन कर्म ‘त्रेताग्नि संग्रह-संस्कार’ कहलाता है, मुख्यरूप से वैदिक यज्ञों के अनेक भेदों का समाहार तीन प्रकार की यज्ञ संस्थाओं (1) पाक यज्ञ संस्था (2) हार्वि-यज्ञ संस्था (3) सोम यज्ञ संस्था के अन्तर्गत हो जाता है। पाकयज्ञ सम्बन्धी यज्ञों का अनुष्ठान विवाहाग्नि में होता है परन्तु हविर्यज्ञ संस्था तथा सोमयज्ञ संस्था के कर्म त्रेताग्नि में सम्पन्न होते हैं। हविर्यज्ञसंस्था के सात प्रधान यज्ञ हैं-

1-अग्न्याधेय (अग्निहोत्र), 2-दर्शपौणमास, 3-आग्रहायण, 4- चातुर्मास्य, 5-निरूढपशुबन्ध, 6- सौत्रामणि, 7-पिण्डपितृयज्ञ।

सोमयज्ञ संस्था के मुख्य यज्ञों के नाम इस प्रकार हैं- 1- अग्निष्टोम 2- अत्यग्निष्टोम 3-उक्थ्य 4-षोडशी 5-वाजपेय 6- अतिरात्र 7- आप्तोर्याम। इन सब श्रौत यज्ञादियों को गृहस्थी मनुष्य द्वारा अपनी धर्मपत्नी के साथ सम्पादित करने का विधान है।

16-अन्त्येष्टिक्रिया- कुछ आचार्यों ने मृत शरीर की अन्त्येष्टि क्रिया को भी एक संस्कार माना है जिसे पितृमेध अन्त्यकर्म, अन्त्येष्टि अथवा शमशान कार्य आदि नामों से भी कहा जाता है। धर्मशास्त्रों की मान्यता है कि मृत शरीर की विधिवत् क्रिया करने से जीव की अतृप्त वासनायें शान्त हो जाती हैं। हमारे शास्त्रों में बहुत ही सहज ढंग से इहलोक और परलोक की परिकल्पना की गई है। जब तक जीव शरीर धारण कर इहलोक में निवास करता है तो वह विभिन्न कर्मों से बंधा रहता है। प्राण छूटने पर ही वह इस लोक को छोड़ देता है। उसके बाद की परिकल्पना में विभिन्न लोकों के अलावा मोक्ष या निर्वाण है।